International Journal of Leading Research Publication (IJLRP)
E-ISSN: 2582-8010 ● Website: www.ijlrp.com ● Email: editor@ijlrp.com

पर्यावरण संरक्षण में पारंपरिक आदिवासी ज्ञान की भूमिका-राजस्थान के संदर्भ में

कमलेश कुमार मीणा

सहायक आचार्य (भूगोल)
राजकीय महाविद्यालय, मांगरोल.

सारांश:

राजस्थान जैसे अर्ध-शुष्क एवं मरुस्थलीय राज्य में पर्यावरण संरक्षण सदियों से स्थानीय समुदायों एवं आदिवासी समूहों की जीवनशैली, संस्कृति और पारंपरिक ज्ञान से गहराई से जुड़ा रहा है। बिश्नोई समाज द्वारा वन एवं वन्यजीवों की रक्षा, भीलों एवं मीणाओं के जल-संरक्षण पद्धतियाँ, तथा स्थानीय ग्रामीण समुदायों द्वारा पारंपरिक कृषि, चराई और औषधीय पौधों के उपयोग जैसे उपाय पर्यावरणीय संतुलन के सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक विकास और औद्योगीकरण की चुनौतियों के बीच यह पारंपरिक/आदिवासी ज्ञान सतत विकास और जलवायु परिवर्तन से निपटने का व्यावहारिक मार्ग सुझाता है। इस शोध-पत्र में राजस्थान के पारंपरिक पर्यावरण संरक्षण उपायों का अध्ययन किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्थानीय ज्ञान-संपदा आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ मिलकर न केवल जैव-विविधता के संरक्षण में सहायक हो सकती है, बल्कि सामाजिक-आर्थिक सतत विकास का आधार भी बन सकती है।

Keywords: राजस्थान, पर्यावरण संरक्षण, आदिवासी ज्ञान, पारंपरिक पद्धतियाँ, बिश्नोई समाज, जल-संरक्षण, जैव-विविधता, सतत विकास।

1.1 परिचय

पर्यावरण मानव जीवन और सभ्यता की आधारशिला है। मानव समाज का अस्तित्व, उसकी सांस्कृतिक धरोहर और आर्थिक प्रगति प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरणीय संसाधनों पर निर्भर करती है। आधुनिक युग में बढ़ते औद्योगीकरण, नगरीकरण और जनसंख्या विस्फोट के कारण पर्यावरण संरक्षण एक वैश्विक चिंता का विषय बन चुका है। जलवायु परिवर्तन, मरुस्थलीकरण, वनों की कटाई और जल संकट जैसी समस्याएँ आज न केवल वैश्विक, बल्कि क्षेत्रीय स्तर पर भी गंभीर चुनौती प्रस्तुत कर रही हैं (संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, 2021)। ऐसे परिदृश्य में पारंपरिक एवं आदिवासी ज्ञान की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि यह ज्ञान स्थानीय परिस्थितियों में विकसित हुआ है और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का एक व्यावहारिक तथा सतत मार्ग प्रस्तुत करता है (गाडगिल एवं गुहा, 1992)।

पर्यावरण संरक्षण की समकालीन चुनौतियों में जैव-विविधता का तीव्र ह्रास, जल स्रोतों का सूखना, प्रदूषण और जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न असंतुलन प्रमुख हैं। राजस्थान जैसे अर्ध-शुष्क एवं मरुस्थलीय राज्य में यह समस्या और भी गहरी है। अंतर-सरकारी पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी, 2021) के अनुसार, मरुस्थलीय क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन का प्रभाव अधिक तीव्र दिखाई देता है, जिसके कारण कृषि उत्पादन, पशुपालन और ग्रामीण आजीविका गंभीर संकट में पड़ सकती है। ऐसे परिप्रेक्ष्य में पारंपरिक जल प्रबंधन प्रणालियाँ, जैसे जोहड़, बावड़ी, नाड़ी और टांका, न केवल ऐतिहासिक धरोहर हैं बल्कि जल संरक्षण के स्थायी साधन भी हैं (अगरवाल एवं नारायण, 1997)।

राजस्थान का भौगोलिक और पर्यावरणीय परिदृश्य इसे विशिष्ट बनाता है। राज्य का लगभग 60% क्षेत्र थार मरुस्थल से आच्छादित है, जहाँ औसत वर्षा मात्र 100–500 मिमी तक सीमित रहती है (सिंह, 2010)। यहाँ की जलवायु शुष्क और अर्ध-शुष्क है, जिसके कारण जल संकट, मरुस्थलीकरण और वनस्पति की कमी जैसी समस्याएँ व्यापक हैं। फिर भी, राजस्थान के विभिन्न आदिवासी और ग्रामीण समुदायों ने स्थानीय भू-परिस्थितियों के अनुरूप अपने ज्ञान और परंपराओं को विकसित किया है। उदाहरणस्वरूप, बिश्नोई समाज ने वन्यजीवों एवं वनों की रक्षा को अपनी धार्मिक आस्था का हिस्सा बना लिया है, जबकि भील और मीणा समुदायों ने पारंपरिक जल स्रोतों और औषधीय पौधों के संरक्षण की उल्लेखनीय परंपराएँ कायम रखी हैं (कोठारी, 2007)। इस प्रकार, राजस्थान का अध्ययन यह संकेत देता है कि पारंपरिक/आदिवासी ज्ञान केवल सांस्कृतिक धरोहर भर नहीं है, बल्कि आज की पर्यावरणीय चुनौतियों के समाधान में भी सहायक सिद्ध हो सकता है। आधुनिक विज्ञान और पारंपरिक ज्ञान का समन्वय सतत विकास और पर्यावरणीय संतुलन के लिए एक सशक्त मार्ग प्रदान कर सकता है।

1.2 पर्यावरणीय ज्ञान परंपरा की संकल्पना एवं आदिवासी ज्ञान की परिभाषा

पारंपरिक या आदिवासी ज्ञान उस व्यावहारिक बुद्धि और सांस्कृतिक अनुभव का संगठित रूप है, जो स्थानीय समुदायों ने अपने पर्यावरण के साथ निरंतर अंतःक्रिया के माध्यम से विकसित किया है। यह ज्ञान मौखिक परंपराओं, धार्मिक आस्थाओं, लोककथाओं, कृषि प्रथाओं, जल-संरक्षण पद्धतियों और औषधीय पौधों के उपयोग के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता है (गाडगिल एवं बर्वे, 1995)। विश्व बैंक (1998) के अनुसार, पारंपरिक ज्ञान "स्थानीय समुदायों द्वारा विकसित एक ऐसा सतत संसाधन प्रबंधन तंत्र है, जो उनकी जीवन-शैली और आजीविका से गहराई से जुड़ा हुआ है।"

पारंपरिक/आदिवासी ज्ञान की प्रमुख विशेषता इसका सामुदायिक स्वरूप है। यह किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि सामूहिक अनुभव का परिणाम होता है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होता है, जिससे इसमें निरंतरता और स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन की क्षमता बनी रहती है। उदाहरण के लिए, राजस्थान में जल संकट के समाधान हेतु विकसित जोहड़ और बावड़ी प्रणालियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि यह ज्ञान स्थानीय पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुरूप ढाला गया है (अगरवाल एवं नारायण, 1997)। साथ ही, यह ज्ञान केवल तकनीकी ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक आस्थाओं से भी गहराई से जुड़ा होता है, जैसे बिश्नोई समाज में वृक्षों और वन्यजीवों की रक्षा धार्मिक कर्तव्य मानी जाती है (कोठारी, 2007)।

1.2.1 आधुनिक विज्ञान से भिन्नता और सामंजस्य की संभावनाएँ

पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच मूलभूत अंतर यह है कि पारंपरिक ज्ञान अनुभवाधारित, स्थानीय और सामुदायिक होता है, जबकि आधुनिक विज्ञान प्रयोगशाला-आधारित, औपचारिक और सार्वभौमिक सत्य की खोज पर आधारित है। इसके बावजूद, दोनों के बीच सामंजस्य की अपार संभावनाएँ हैं। आधुनिक विज्ञान जहाँ पारंपरिक तकनीकों को परिष्कृत और व्यापक स्तर पर लागू कर सकता है, वहीं पारंपरिक ज्ञान स्थानीय स्तर पर पर्यावरणीय समस्याओं के व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत कर सकता है (बर्वे, 2000)। उदाहरणस्वरूप, पारंपरिक जल संचयन प्रणालियों को आधुनिक इंजीनियरिंग और जल नीति से जोड़कर राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों में जल संकट को प्रभावी ढंग से कम किया जा सकता है।

राजस्थान का सामाजिक ताना-बाना विविधतापूर्ण है, जिसमें आदिवासी और ग्रामीण समुदायों की परंपराएँ पर्यावरण संरक्षण से गहराई से जुड़ी हुई हैं। मरुस्थलीय और अर्ध-शुष्क परिस्थितियों में जीवित रहने के लिए इन समुदायों ने प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग और संरक्षण के ऐसे तरीक़े विकसित किए, जो आज भी सतत विकास के मॉडल के रूप में देखे जाते हैं (सिंह, 2010)।

भील और मीणा समुदाय पारंपरिक रूप से जल-संरक्षण और वनों के संरक्षण में अपनी विशेष पहचान रखते हैं। भीलों द्वारा 'नाड़ियाँ' और छोटे तालाब बनाने की परंपरा रही है, जिससे वर्षा जल को संरक्षित कर पशुपालन और कृषि के लिए उपयोग किया जाता था (मेहता, 2002)। मीणा समुदाय ग्रामीण पारिस्थितिकी में औषधीय पौधों के संरक्षण और उपयोग में दक्ष रहा है। गरासिया आदिवासी समुदाय पवित्र उपवनों (Sacred Groves) को संरक्षित करके जैव-विविधता की रक्षा करता रहा है (गाडगिल एवं गुहा, 1992)। सांसी समुदाय पशुपालन और चराई की पारंपरिक पद्धतियों से घासभूमि (Grasslands) का संरक्षण करता रहा है, जिससे मरुस्थल क्षेत्रों में संतुलन बना रहा (चौधरी, 2015)।

1.2.2 बिश्नोई समाज की पर्यावरणीय आस्था और संरक्षण परंपरा

राजस्थान के बिश्नोई समाज का पर्यावरण संरक्षण में योगदान विश्वभर में चर्चित है। बिश्नोई धर्मगुरु जाम्भोजी (सन् 1451–1536) ने प्रकृति और जीव-जंतुओं की रक्षा को धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्थापित किया। उनके 29 नियमों में वृक्षों और वन्यजीवों की रक्षा विशेष रूप से उल्लिखित है। बिश्नोई समाज द्वारा खेजड़ी वृक्ष की रक्षा और हिरणों की सुरक्षा इस बात का प्रमाण है कि धार्मिक आस्था के माध्यम से भी पर्यावरणीय संतुलन को संरक्षित किया जा सकता है (कोठारी, 2007)। 1730 ई. के खेजड़ली आंदोलन में अमृता देवी बिश्नोई और 363 अनुयायियों ने वृक्षों की रक्षा हेतु अपने प्राण न्यौछावर कर दिए थे, जो पर्यावरणीय आंदोलन का एक ऐतिहासिक उदाहरण माना जाता है (शर्मा, 2018)। राजस्थान की लोक-संस्कृति में प्रकृति की पूजा और संरक्षण की गहरी परंपरा है। स्थानीय लोकगीतों और कथाओं में वृक्षों, नदियों और पशु-पक्षियों को पूजनीय माना जाता है। तीज, गणगौर और केजड़ली जैसे पर्वों में प्रकृति के साथ सामंजस्य और पर्यावरणीय संतुलन का संदेश निहित है। ग्रामीण क्षेत्रों में पीपल, बरगद और नीम के वृक्षों को पवित्र मानकर उनकी रक्षा की जाती है, जिससे जैव-विविधता का संरक्षण होता है (सिंहवी, 2003)। इस प्रकार, राजस्थान के आदिवासी और पारंपरिक समुदायों की जीवनशैली में पर्यावरण संरक्षण केवल एक

आर्थिक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य भी है। यह परंपराएँ आधुनिक पर्यावरणीय आंदोलनों और सतत विकास की अवधारणा को गहराई से प्रभावित करती हैं।

1.3 पारंपरिक जल-संरक्षण पद्धतियाँ

राजस्थान का अधिकांश भू-भाग अर्ध-शुष्क और मरुस्थलीय है, जहाँ औसत वर्षा असमान और अत्यंत कम होती है। जलवायु की इन कठोर परिस्थितियों में राजस्थान के लोगों ने ऐसी पारंपरिक जल-संरक्षण प्रणालियाँ विकसित कीं, जिनका महत्व आज भी वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित है। इन तकनीकों ने न केवल ग्रामीण जीवन को स्थायित्व प्रदान किया, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का भी हिस्सा बन गईं (अगरवाल एवं नारायण, 1997)। राजस्थान में जल-संचयन के लिए विकसित बावड़ियाँ (stepwells) न केवल जल संग्रह का साधन थीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का केंद्र भी थीं। जोहड़ वर्षा जल संग्रहण के छोटे तालाब होते थे, जिनका उपयोग पीने के पानी और सिंचाई दोनों के लिए किया जाता था। तालाब बड़े पैमाने पर जल भंडारण की परंपरा का हिस्सा थे और गाँवों की सामूहिक संपत्ति माने जाते थे। नाड़ी गाँव या ढाणी के पास की प्राकृतिक गड्ढियों को गहरा करके बनाई जाती थीं, जिनमें वर्षा का जल इकट्ठा होता था। टांका प्रणाली विशेष रूप से घरों और हवेलियों में भूमिगत जल टंकियों के रूप में विकसित की गई थी, जिनमें छत से वर्षा जल संग्रहित किया जाता था (मेहता, 2002)। इन सभी प्रणालियों ने राजस्थान की जल संकट-ग्रस्त परिस्थितियों में जीवन को संभव बनाया।

1.3.1 भीलों और ग्रामीण समुदायों की स्थानीय जल प्रबंधन तकनीक

भील और अन्य आदिवासी समुदायों ने जल संरक्षण को अपने पारंपरिक जीवन का अभिन्न अंग बनाया। भील समुदाय द्वारा विकसित छोटे-छोटे जलाशय और नाड़ियाँ आज भी कई इलाकों में देखने को मिलते हैं, जो वर्षा जल को लंबे समय तक संरक्षित रखते हैं (चौधरी, 2015)। ग्रामीण समुदायों ने जल स्रोतों के सामुदायिक प्रबंधन की परंपरा कायम रखी, जिसमें 'हर गाँव का तालाब' सामूहिक जिम्मेदारी से संरक्षित किया जाता था। जल के इस साझा उपयोग ने न केवल जल की उपलब्धता सुनिश्चित की बल्कि सामाजिक एकता और सहयोग को भी बढ़ावा दिया (गाडगिल एवं गुहा, 1992)।

मरुस्थलीय पारिस्थितिकी में पारंपरिक जल-संरक्षण पद्धतियाँ आज भी पर्यावरणीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रणालियाँ भूजल स्तर को बनाए रखने, मरुस्थलीकरण को रोकने और जैव-विविधता को संरक्षित करने में सहायक रही हैं। उदाहरणस्वरूप, जैसलमेर और बीकानेर के क्षेत्रों में टांका और जोहड़ आज भी वर्षा जल का सबसे विश्वसनीय स्रोत हैं (सिंह, 2010)। आधुनिक जल प्रबंधन योजनाओं के बावजूद इन पारंपरिक प्रणालियों की प्रासंगिकता बनी हुई है, क्योंकि ये स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप, किफायती और टिकाऊ हैं (विश्व बैंक, 1998)। राजस्थान की पारंपरिक जल-संरक्षण पद्धतियाँ न केवल ऐतिहासिक धरोहर हैं, बल्कि आज के जलवायु संकट और जल संरक्षण अभियानों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत हैं।

1.4 जैव-विविधता संरक्षण एवं वन-संरक्षण

राजस्थान की भौगोलिक एवं पारिस्थितिक विविधता इसे जैव-विविधता की दृष्टि से समृद्ध बनाती है। यहाँ अरावली पर्वतमाला, थार मरुस्थल और पूर्वी राजस्थान की घाटियाँ अलग-अलग पारिस्थितिक तंत्रों का

निर्माण करती हैं। इस विविधता को संरक्षित रखने में पारंपरिक समुदायों की जीवनशैली, लोक-आस्थाएँ और धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं (गाडगिल एवं बेर्डे, 1985)।

राजस्थान के विभिन्न भागों में पाए जाने वाले पवित्र उपवन (ओरण/देवबाणी) जैव-विविधता संरक्षण के अनूठे उदाहरण हैं। इन उपवनों को स्थानीय लोग देवताओं की भूमि मानकर सुरक्षित रखते हैं और वहाँ शिकार, पेड़ काटना अथवा चराई निषिद्ध रहती है। जैसलमेर, बाड़मेर और जोधपुर जिलों के कई ओरण आज भी दुर्लभ वनस्पतियों और पक्षी प्रजातियों के आश्रय स्थल हैं (चौधरी, 2012)। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो ये पवित्र उपवन सूक्ष्म-जलवायु को बनाए रखते हैं और क्षेत्रीय जैव-विविधता की रक्षा में सहायक होते हैं (मल्होत्रा एवं गोखले, 1996)।

राजस्थान के ग्रामीण और पशुपालक समुदायों ने सदियों से ऐसी चराई और कृषि पद्धतियाँ अपनाई हैं, जो पारिस्थितिक दृष्टि से संतुलित हैं। ऊंट, बकरी और भेड़ पालन मरुस्थलीय जीवन का आधार रहा है, परंतु चराई का नियंत्रण और समयानुसार स्थान परिवर्तन (ट्रांस-ह्यूमन्स) जैसी परंपराएँ भूमि को बंजर होने से बचाती रही हैं (कल्ला, 2001)। कृषि में मिश्रित फसल पद्धति तथा कम पानी में उगने वाली बाजरा, ज्वार और मूंग जैसी फसलों की परंपरा न केवल खाद्य सुरक्षा प्रदान करती थी बल्कि भूमि की उर्वरता को भी बनाए रखती थी (सिंह, 2010)। राजस्थान के ग्रामीण एवं आदिवासी समुदाय औषधीय पौधों के संरक्षण और उनके उपयोग की विशिष्ट परंपरा रखते हैं। अरावली पर्वतमाला में पाए जाने वाले नीम, आंवला, गुग्गल, अश्वगंधा और शंखपुष्पी जैसे पौधे आज भी आयुर्वेदिक और लोक-चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं (शर्मा, 2005)। भील और गरासिया समुदायों के पारंपरिक वैद्य (भगत या भोपे) स्थानीय वनस्पतियों का उपयोग उपचार के लिए करते हैं। इस लोक-चिकित्सा ज्ञान ने न केवल समुदाय की स्वास्थ्य आवश्यकताओं को पूरा किया बल्कि जैव-विविधता के संरक्षण को भी बढ़ावा दिया (जोशी, 2014)। राजस्थान की जैव-विविधता संरक्षण परंपराएँ सामाजिक-सांस्कृतिक विश्वासों और जीवन पद्धतियों से गहराई से जुड़ी रही हैं। आधुनिक संदर्भ में भी इनसे सतत् विकास और पर्यावरणीय प्रबंधन के लिए प्रेरणा मिलती है।

1.5 आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक ज्ञान की प्रासंगिकता

राजस्थान की पारंपरिक पर्यावरणीय परंपराएँ आज केवल अतीत की धरोहर नहीं हैं, बल्कि वर्तमान वैश्विक चुनौतियों के समाधान के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। विशेषकर **सतत विकास लक्ष्यों (SDGs)**, **जलवायु परिवर्तन** और **पर्यावरणीय न्याय** के संदर्भ में इन पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों की प्रासंगिकता बढ़ जाती है (यूनाइटेड नेशन्स, 2015)।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषित सतत विकास लक्ष्यों (2015–2030) में गरीबी उन्मूलन, भूख समाप्त करना, स्वच्छ जल, जलवायु कार्रवाई और पारिस्थितिकी संरक्षण जैसे प्रमुख लक्ष्य शामिल हैं। राजस्थान की पारंपरिक पद्धतियाँ–जैसे *बावड़ी, जोहड़, तालाब और टांका प्रणाली*–इन लक्ष्यों की पूर्ति में प्रत्यक्ष योगदान करती हैं (सिंह, 2019)। ये प्रणालियाँ जल संचयन के साथ-साथ ग्रामीण समुदायों को सामाजिक रूप से भी सशक्त करती हैं। इसी तरह, बिश्नोई समाज की संरक्षण परंपराएँ *SDG 15 (स्थलीय पारिस्थितिकी का संरक्षण)* से गहराई से जुड़ी हुई हैं (कल्ला, 2004)। मरुस्थलीय राजस्थान जलवायु परिवर्तन से सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्रों में गिना जाता है। ऐसे में स्थानीय समुदायों का परंपरागत ज्ञान–जैसे *सूखा प्रतिरोधी फसलें,*

चराई की पारंपरिक पद्धतियाँ और *जल संरक्षण तकनीकें*—अनुकूलन (Adaptation) की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है (गाडगिल एवं गuha, 1992)। ये उपाय ग्रीनहाउस गैसों को कम करने के साथ-साथ जैव-विविधता को बनाए रखने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

पर्यावरणीय संकटों का प्रभावी समाधान तभी संभव है जब आधुनिक विज्ञान और परंपरागत ज्ञान का समन्वय किया जाए। राजस्थान में वैज्ञानिक अनुसंधान के साथ-साथ आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के अनुभवजन्य ज्ञान को मिलाकर *सामुदायिक आधारित प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (CBNRM)* मॉडल विकसित किए जा सकते हैं (अग्रवाल, 1992)। जैसे, आधुनिक *ड्रिप इरिगेशन* तकनीक को परंपरागत *टांका प्रणाली* के साथ जोड़ा जाए तो जल प्रबंधन और भी प्रभावी हो सकता है। इसी प्रकार, औषधीय पौधों पर आधारित लोक-चिकित्सा को आधुनिक फार्माकोलॉजी के साथ जोड़कर स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ बनाया जा सकता है (गुप्ता, 2010)। राजस्थान का पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान आज की वैश्विक चुनौतियों से निपटने के लिए न केवल उपयोगी है, बल्कि भविष्य की नीतियों का आधार भी बन सकता है। यह ज्ञान हमें बताता है कि प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व ही सतत विकास की वास्तविक कुंजी है। राजस्थान की पारंपरिक पर्यावरणीय परंपराएँ आज केवल इतिहास का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि वे आधुनिक पर्यावरणीय संकटों का समाधान प्रस्तुत करने में भी सक्षम हैं। इसलिए आवश्यक है कि इनके पुनर्जीवन, दस्तावेजीकरण और नीतिगत प्रयोग को बढ़ावा दिया जाए।

1.6 पारंपरिक तकनीकों का पुनर्जीवन और दस्तावेजीकरण

राजस्थान में *बावड़ी, जोहड़, टांका, नाड़ी* जैसी जल संचयन प्रणालियाँ केवल तकनीकी दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामुदायिक सहभागिता के स्तर पर भी अद्वितीय हैं। इन प्रणालियों का वैज्ञानिक पुनरुद्धार तथा डिजिटल दस्तावेजीकरण किया जाना चाहिए ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इस धरोहर से जुड़ी रहें (सिंह, 2019)। उदाहरणस्वरूप, "हर गाँव - एक तालाब" योजना के अंतर्गत स्थानीय स्तर पर पुनर्निर्माण और मरम्मत कार्य किए जा सकते हैं। पर्यावरण संरक्षण की परंपराओं को शिक्षा प्रणाली और सामुदायिक प्रशिक्षण का हिस्सा बनाना आवश्यक है। विद्यालयों और महाविद्यालयों में *लोककथाएँ, लोकगीत, बिश्नोई समाज के संरक्षण सिद्धांत* तथा पारंपरिक जल प्रबंधन पद्धतियों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जा सकता है (गुप्ता, 2010)। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में **जन-जागरूकता अभियान** चलाकर युवाओं और महिलाओं को इस ज्ञान की महत्ता से परिचित कराया जाना चाहिए।

पर्यावरण संरक्षण में केवल सरकारी योजनाएँ पर्याप्त नहीं हैं; इसके लिए स्थानीय समुदायों की सहभागिता अनिवार्य है। "सहभागी प्रबंधन मॉडल (Participatory Management Model)" के अंतर्गत सरकार, गैर-सरकारी संगठन (NGOs) और ग्रामीण समाज मिलकर नीतियाँ बना सकते हैं (अग्रवाल, 1992)। उदाहरण के लिए, *मनरेगा* के अंतर्गत पारंपरिक जल-संरचना पुनर्जीवन को प्राथमिकता दी जा सकती है।

1.6.1 नीतिगत सुझाव

16.1.1 पारंपरिक जल संरचनाओं का पुनर्जीवन: हर पंचायत स्तर पर कम से कम एक *जोहड़ या तालाब* का पुनर्निर्माण अनिवार्य किया जाए।

16.1.2 जैव-विविधता संरक्षण: पवित्र उपवनों (Sacred Groves) और लोक-वन क्षेत्रों को *सामुदायिक आरक्षित वन* (Community Reserved Forest) घोषित किया जाए।

16.1.3 लोक ज्ञान का संरक्षण: औषधीय पौधों और लोक-चिकित्सा से संबंधित पारंपरिक ज्ञान को **इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स (IPR)** द्वारा सुरक्षित किया जाए।

16.1.4 शिक्षा और प्रशिक्षण: राज्य स्तर पर *"पर्यावरण और परंपरा पाठ्यक्रम"* विकसित कर विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में लागू किया जाए।

16.1.5 जलवायु नीति में समन्वय: राजस्थान की जलवायु नीति में आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के अनुभवजन्य ज्ञान को शामिल किया जाए।

1.7 निष्कर्ष

इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि राजस्थान की पारंपरिक और आदिवासी ज्ञान परंपराएँ केवल सांस्कृतिक धरोहर नहीं हैं, बल्कि वे सतत विकास और पर्यावरणीय संतुलन के सशक्त साधन भी हैं। भील, मीणा, गरासिया, सांसी और बिश्नोई जैसे समुदायों ने अपने जीवन-व्यवहार में जल, वन और जैव-विविधता संरक्षण को आस्था, लोकाचार और आजीविका से जोड़ा है। बावड़ी, जोहड़, तालाब और टांका जैसी प्रणालियाँ आज भी मरुस्थलीय पारिस्थितिकी में जीवन-रेखा बनी हुई हैं। इसी प्रकार पवित्र उपवनों, औषधीय पौधों की परंपरा और ग्रामीण महिलाओं की संरक्षणात्मक भूमिका पर्यावरणीय स्थिरता के लिए अमूल्य योगदान है।

राजस्थान की परिस्थितियाँ – *कम वर्षा, मरुस्थलीय भूगोल, जल संकट* – ने यहाँ के समाज को विशिष्ट पर्यावरणीय दृष्टिकोण और व्यावहारिक समाधान विकसित करने के लिए प्रेरित किया। इन परंपराओं का वैज्ञानिक पुनर्जीवन आधुनिक नीतियों और सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) के साथ मिलकर एक "राजस्थान मॉडल" प्रस्तुत कर सकता है। यह मॉडल न केवल भारत के अन्य शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों, बल्कि विश्व के उन देशों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है जहाँ जलवायु परिवर्तन और जल संकट गंभीर चुनौती बनते जा रहे हैं।

राजस्थान की पारंपरिक और आदिवासी पर्यावरणीय परंपराएँ केवल सांस्कृतिक धरोहर ही नहीं, बल्कि वे एक जीवंत पर्यावरण-दर्शन का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। मरुस्थलीय और अर्ध-शुष्क भौगोलिक परिस्थितियों ने यहाँ के समाज को प्राकृतिक संसाधनों के साथ गहरे जुड़ाव और संवेदनशील संतुलन की दिशा में प्रेरित किया है। भील, मीणा, गरासिया, सांसी और बिश्नोई जैसे समुदायों ने अपनी पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनुभवजन्य ज्ञान प्रणाली में जल-संरक्षण, वन-संरक्षण और जैव-विविधता के संरक्षण को प्रमुखता दी। बिश्नोई समाज का पेड़ों और जीव-जंतुओं की रक्षा के लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर देना यह सिद्ध करता है कि पर्यावरण संरक्षण इन समुदायों के लिए केवल आवश्यकता ही नहीं, बल्कि आस्था और जीवन-दर्शन का हिस्सा भी है।

राजस्थान के जल-संरक्षण मॉडल – बावड़ी, जोहड़, तालाब, नाड़ी और टांका – आज भी मरुस्थलीय पारिस्थितिकी के लिए जीवन-रेखा माने जाते हैं। आधुनिक समय में जब भूमिगत जल-स्तर तेजी से गिर रहा है और जलवायु परिवर्तन के कारण वर्षा-पैटर्न अस्थिर हो रहे हैं, तब ये पारंपरिक प्रणालियाँ हमें यह सिखाती हैं कि स्थानीय परिस्थिति-आधारित समाधान ही सबसे कारगर हो सकते हैं। इसी प्रकार पवित्र उपवन (Sacred Groves), औषधीय पौधों की परंपरा और ग्रामीण कृषि-चराई प्रणाली यह दर्शाती है कि सामुदायिक जीवन और पारिस्थितिकी का संतुलन किस प्रकार सतत रूप से बनाए रखा जा सकता है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाए तो लोककथाएँ, लोकगीत, पर्व-त्योहार और धार्मिक मान्यताएँ प्रकृति के प्रति गहरी श्रद्धा और सम्मान को अभिव्यक्त करती हैं। ग्रामीण महिला की भूमिकाएँ – जैसे जल-संरक्षण, ईंधन-चारा जुटाना और औषधीय पौधों का उपयोग – यह सिद्ध करती हैं कि नारी और प्रकृति का संबंध संरक्षणात्मक और जीवनदायिनी है। यह पहलू आधुनिक विमर्शों जैसे *इको-फेमिनिज़्म* (पर्यावरण-नारीवाद) से भी मेल खाता है।

आधुनिक संदर्भ में इन परंपराओं की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में जल, भूमि, जलवायु और जैव-विविधता संरक्षण पर जो बल दिया गया है, उसमें राजस्थान की आदिवासी और पारंपरिक प्रणालियाँ व्यावहारिक रूप से योगदान दे सकती हैं। जलवायु परिवर्तन की चुनौती का सामना करने के लिए यदि पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान का समन्वय किया जाए, तो यह मॉडल न केवल राजस्थान, बल्कि संपूर्ण भारत और विश्व के अन्य शुष्क/अर्ध-शुष्क क्षेत्रों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसे एक "राजस्थान मॉडल" के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जो स्थानीय ज्ञान और वैश्विक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय करके सतत जीवन पद्धति की ओर मार्गदर्शन करता है।

आगे के अनुसंधान की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इन लोक-परंपराओं का प्रलेखन और डिजिटलीकरण किया जाए, ताकि मौखिक परंपराओं में निहित पर्यावरणीय ज्ञान आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रहे। साथ ही औषधीय पौधों और लोक-चिकित्सा की वैज्ञानिक मान्यता, पारंपरिक जल-प्रणालियों का बड़े पैमाने पर पुनर्जीवन, तथा ग्रामीण महिला की भूमिकाओं का गहन अध्ययन नए आयाम खोल सकते हैं। नीति स्तर पर यदि राज्य सरकारें और स्थानीय समुदाय आपसी सहयोग के मॉडल विकसित करें, तो पर्यावरण संरक्षण को *"लोक-आंदोलन"* का रूप दिया जा सकता है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि राजस्थान की पारंपरिक और आदिवासी पर्यावरणीय परंपराएँ केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान की आवश्यकता और भविष्य की दिशा हैं। वे हमें यह सिखाती हैं कि प्रकृति को उपभोग की वस्तु मानने के बजाय सह-अस्तित्व का आधार माना जाए। यदि शिक्षा, नीति और जन-जागरूकता में इन मूल्यों को पुनर्स्थापित किया जाए तो राजस्थान की धरती से निकला यह *पर्यावरणीय ज्ञान* पूरे विश्व में सतत विकास का प्रेरक स्रोत बन सकता है।

संदर्भ:

1. अगरवाल, अ., एवं नारायण, स. (1997). *डाइंग विज़डम: भारत की पारंपरिक जल संचयन प्रणालियों का उत्थान, पतन और संभावनाएँ.* नई दिल्ली: सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट।

2. आचार्य, ओ. पी. (2015). *राजस्थान का पारंपरिक जल प्रबंधन.* जयपुर: राजस्थान ग्रंथ अकादमी।
3. बिश्नोई, रामस्वरूप. (2012). *बिश्नोई समाज और पर्यावरण संरक्षण.* बीकानेर: संस्कार पब्लिशिंग हाउस।
4. बर्वे, ई. (2000). *ट्रेडिशनल नॉलेज सिस्टम्स एंड मॉडर्न साइंस.* पुणे: इकोलॉजिकल सोसाइटी।
5. गाडगिल, म., एवं गुहा, र. (1992). *दिस फिशर्ड लैंड: एन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. गाडगिल, म., एवं बर्वे, ई. (1995). *आदिवासी ज्ञान और जैव विविधता संरक्षण. इकोलॉजिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया जर्नल*, 3(2), 1–12.
7. गोस्वामी, ओ. पी. (2014). *राजस्थान का लोक साहित्य.* जयपुर: राजस्थान ग्रंथ अकादमी।
8. चौधरी, एन. (2015). *राजस्थान के आदिवासी समुदाय और पर्यावरण संरक्षण.* उदयपुर: वनस्थली पब्लिकेशन।
9. चौधरी, सुभाष. (2018). *राजस्थानी लोक संस्कृति और समाज.* बीकानेर: संस्कार पब्लिशिंग हाउस।
10. झंवर, दिनेश. (2017). *राजस्थान के लोक वाद्य और उनकी परंपरा.* उदयपुर: सूर्यमुखी पब्लिकेशन।
11. मीणा, जगदीश. (2019). *आदिवासी समाज और पर्यावरणीय परंपराएँ: राजस्थान का अध्ययन.* अजमेर: राजस्थान विश्वविद्यालय प्रकाशन।
12. मेहता, पी. (2002). *राजस्थान में जल प्रबंधन की पारंपरिक पद्धतियाँ.* जयपुर: भारतीय लोक विज्ञान संस्थान।
13. शर्मा, डी. (2018). *खेजड़ली आंदोलन और बिश्नोई समाज.* बीकानेर: राजस्थानी ग्रंथ अकादमी।
14. शर्मा, रमेश. (2011). *भारतीय लोककथाओं में पर्यावरण चेतना.* दिल्ली: ज्ञानपीठ।
15. सिंह, एस. (2010). *थार मरुस्थल और पारिस्थितिकी.* जोधपुर: डेज़र्ट स्टडीज पब्लिकेशन।
16. सिंहवी, एल. (2003). *राजस्थान की लोकसंस्कृति और प्रकृति संरक्षण.* अजमेर: राजस्थान साहित्य मंडल।
17. कोठारी, अ. (2007). *पारंपरिक ज्ञान और भारत में जैव-विविधता संरक्षण.* पुणे: कल्पवृक्ष।
18. विश्व बैंक. (1998). *इंडिजिनस नॉलेज फॉर डेवलपमेंट.* वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक पब्लिकेशन।
19. Agarwal, A., & Narain, S. (1997). *Dying Wisdom: Rise, Fall and Potential of India's Traditional Water Harvesting Systems*. New Delhi: Centre for Science and Environment.
20. Baviskar, A. (2003). *In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley*. New Delhi: Oxford University Press.
21. Gadgil, M., & Guha, R. (1992). *This Fissured Land: An Ecological History of India*. New Delhi: Oxford University Press.
22. Jain, S. C. (2005). *Water and Culture in Rajasthan*. Jaipur: Rawat Publications.
23. United Nations. (2015). *Transforming Our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development*. New York: United Nations.
24. Singh, R. (2020). Traditional ecological knowledge and sustainable development: Lessons from Rajasthan. *Indian Journal of Environmental Studies*, 25(2), 45–59.